सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : परिवेश की कविता कविता का परिवेश

✧ आकाश भदौरिया

कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से निस्संग रहकर नहीं लिख सकता। परिवेश ही उसकी संवेदना को सृजन में रूपान्तरित करने का आधारभूत माध्यम है। वर्तमान समय में जो कविता जिन्दगी के जितने अधिक हिस्से को अपने दर्पण में दिखा सकती है और जितनी परिवेश से जुड़ी हो सकती है, वह उतनी ही बड़ी कविता मानी जा सकती है। सर्वेश्वर के सम्बन्ध में यदि कहा जाये कि उनका सम्पूर्ण काव्य उनके परिवेश-बोध का ही सर्जनात्मक प्रतिफलन है, तो संभवत: इसे अत्युक्ति मानकर बहस का मुद्दा नहीं बनाया जायेगा। सर्वेश्वर ने आम आदमी की जिन्दगी को, हमारे परिवेश के संकट को आत्मीय, सहज और विश्वसनीय शिल्प में ढालकर कहा है। सर्वेश्वर कभी भी अपने समय, समाज और परिवेश को उपेक्षित करके नहीं चले हैं। उनकी हर रचना अपने समय के परिवेश की गवाही दे देती है। या यूँ कहें कि परिवेश की हर बारीक रेखा को उन्होंने अपनी रचना में उकेरा है। ''अज्ञेय भी परिवेश के गवाह बने रहते हैं, पर एक अभिजात्य के साथ। सीधी भाषा में कहूँ कि एक दूरी के साथ-एक निस्संगता के साथ जो उनके कवि-व्यक्तित्व को और भी महिमामय बना देती है। सर्वेश्वर परिवेश को जीते हैं, उसे अपनी अनुभूतियों में कैद कर लेते हैं और फिर विश्वस्त भाषा में ढालकर उसी परिवेश के सामने फैला देते हैं।''[1] परिवेश के सभी रंग उनकी कविताओं में मिलते हैं। परिवेश उनकी कविता में अर्थापित होता है और उनकी कविता परिवेश में परिभाषित होती है। वे सही अर्थों में जीवन के कवि हैं, जीवन का ऐसा कवि जो परिवेश से रचना को निचोड़ता है। परिवेश उनके लिए केवल उत्प्रेरक का कार्य नहीं करता बल्कि वह मथा जाकर अन्तत: उनकी रचनाशीलता में परिणत हो जाता है। सर्वेश्वर के काव्य का मूल्यांकन करने के लिए उनके बहुआयामी परिवेश-बोध को रीझना-बूझना अनिवार्य है।

वर्तमान परिवेश पर राजनीति हावी है। आज साहित्य क्या सभी से ऊपर राजनीति हो गयी है। वर्तमान परिवेश में साधारण व्यक्ति के लिए भी राजनीति से अलग रहना कठिन है फिर कवियों और कवि-कर्म के सम्बन्ध में यह बात कैसे अलग हो सकती है? सर्वेश्वर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि कवि राजनीति से दूर नहीं रह सकता। ''यह बात भी जोर से उठायी गयी कि कवि को राजनीति से दूर रहना चाहिए। आज कवि से यह कहना कि राजनीति से दूर रहो, ऐसी ही बात है कि आग पर चलो लेकिन जलो मत। आज का कवि राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। राजनीति और रचनाकार का रिश्ता कम-ज्यादा वेदों से ही दिखायी देता है।''[2] वस्तुत: सर्वेश्वर का यह कथन अकारण नहीं है। असल में उन परिस्थितियों के भीतरी-बाहरी संघर्षों ने कवि को मजबूर सा कर दिया था कि वह राजनीतिक प्रेरणा से भरी कवितायें लिखे।

आजादी मिलने के बाद इस देश के सामने सबसे बड़ी समस्या यह हुई कि समय बीतने के साथ-साथ 'लोक' उपेक्षित हो गया और 'तन्त्र' ही इस देश का नेतृत्व करने लगा। दरअसल भारत की राजनीति पूरी तरह सत्ता की ओर उन्मुख है। सत्ता उसका साधन भी है और साध्य भी। और भारतीय राजनीति के कुछ कर्णधारों ने नीतियों के नाम पर कुछ ऐसे पैबन्द लगाये जिनका जनकल्याण से कोई सरोकार नहीं। किसी आधारभूत बदलाव की छटपटाहट इन नेताओं में सिरे से गायब है। इस स्थिति का मार्मिक अंकन सर्वेश्वर इन शब्दों में करते हैं-''**कितने भी जंगल साफ करते जाओ/और रास्ता बनाते जाओ/मील के पत्थरों की जगह/लगाते जाओ पत्थर की टोपियाँ/पर कोई रास्ता कहीं नहीं ले जाता/वापस लौट आता है उन्हीं तहखानों में/जहाँ हर एक के अपने-अपने चरखों का अम्बार है/चारों ओर लगी हुई दीमकों की कतार है/सीलन है, चूहे हैं, जाले हैं।**''[3]

राजनीति की मूल्यहीनता काव्य-भाषा को भी अपने ढंग से प्रभावित करती है। वे शब्द, जो अपनी मूल्यगत गरिमा के कारण अर्थवान थे, उनकी अर्थवत्ता का धीरे-धीरे क्षरण होने लगा। राजनीतिज्ञों ने जब उदात्त जीवन-मूल्यों से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग करना आरम्भ किया तो उन शब्दों में निहित अर्थवत्ता गायब हो गयी। सर्वेश्वर ने इस स्थिति की अभिव्यक्ति अपनी 'गोबरैले' शीर्षक कविता में बड़े ही व्यंग्यपूर्ण शब्दों में की है-''**अच्छे से अच्छा शब्द फूलकर/गोबरैले में बदल जाता है/और बड़े से विचार को/गंदी गोली की तरह ठेलने लगता है/चाहे वह ईश्वर हो या लोकतन्त्र।**''[4] किन्तु ये जानते हुए भी कि इन खोखले शब्दों का कोई प्रभाव जनसाधारण पर नहीं पड़ता तब भी राजनीतिक दल ऐसे शब्दों के चूल्हों पर अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंकने में सफल हो जाते हैं। कभी धर्म के नाम पर, कभी दलगत प्रतिबद्धता के नाम पर लुभावने शब्दों को उछाला जाता है और अन्तत: भूखा और गरीब ही इस पूरे षडयन्त्र का शिकार बनता है।

सर्वेश्वर की निगाह में क्रान्ति धर्म के लिए की जाये यह आवश्यक नहीं, क्रान्ति राजनीतिक उद्देश्यों के लिए की जाये इसका भी कोई बहुत बड़ा नहीं महत्त्व नहीं। वर्तमान राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में अगर कोई क्रान्ति होनी है, तो उसका सबसे बड़ा उद्देश्य गरीबी और भूख के खिलाफ जंग ही है। 'पोस्टमार्टम की रिपोर्ट' नामक कविता में सर्वेश्वर ने इस प्रगतिशील अवधारणा को काव्यात्मक सांकेतिकता के साथ अभिव्यक्त किया है-''**गोली खाकर/एक के मुँह से निकला/'राम'/दूसरे के मुँह से निकला/'माओ'/लेकिन तीसरे के मुँह से निकला/'आलू'/पोस्टमार्टम की रिपोर्ट है/कि पहले दो के पेट/भरे हुए थे।**''[5]

सर्वेश्वर ने जनक्रान्ति की भावना को अपनी काव्य-कृतियों में रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। क्रान्ति उनके लिए कोई शाब्दिक आडम्बर नहीं बल्कि एक ऐसा दर्शन है, जिसे वे दलितों और शोषितों के अन्तर्मानस में प्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं। उनका विचार है कि क्रान्ति के लिए किसी प्रचार या आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। वह जनसाधारण से प्रारम्भ होती है और जनसाधारण में ही अपने उत्कर्ष को प्राप्त होती है। क्रांति के लिए बलिदान ही पाथेय है और सशक्त प्रतिरोध ही उसका हथियार है। वे अपने क्रान्ति-दर्शन को इन शब्दों में वाणी देते हैं–''**मैं जानता हूँ तुम्हारे हाथों में/अभी कोई झण्डा नहीं है/भूखे और असहाय आदमी को/किसी झण्डे की जरूरत नहीं होती/अपने उस साथी की/तार-तार फटी, खून से रंगी कमीज को/एक बांस में लपेट ऊँचा उठा लो/जिसे कल अकेले वैगन लूटते समय/गोली मार दी गयी थी।**''[6] दरअसल सर्वेश्वर की दृष्टि में क्रान्ति और आजादी में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जब हम अपनी आजादी खो देते हैं तब हमें क्रान्ति की आवश्यकता होती है। दरअसल क्रान्ति का उद्देश्य ही स्वतन्त्र होना है। भूख से आजादी, गरीबी से आजादी, अभिव्यक्ति की आजादी इन्हीं के लिए क्रान्ति का ताना-बाना बुना जाता है। सर्वेश्वर महसूस करते हैं कि यद्यपि आज हम स्वतन्त्र हैं किन्तु विदेशी पराधीनता की जेल से निकलकर हम एक बड़ी जेल में बन्दी हो गये हैं। धर्म, जाति तथा राजनीतिक दलों की बेड़ियों ने हमें जकड़ लिया है। ऐसे में जब हमें आजादी का सच्चा अहसास होता है तब हम इन बंधनों से मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगते हैं। सचमुच सर्वेश्वर न केवल राजनीतिक परिवेश की आग पर चले हैं बल्कि उसमें उन्होंने अपने अंतर्मन को दहकते हुए भी महसूस किया है। यही कारण है कि उनकी वे कवितायें जिनमें राजनीतिक परिवेश झलकता है, अपने नुकीलेपन से हमें बेध देती है।

सर्वेश्वर के परिवेश-बोध का दूसरा आयाम उनके सामाजिक परिवेश से सम्पृक्त है। सर्वेश्वर का सामाजिक परिवेश गाँव से जुड़ने में ही अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। वस्तुतः गाँव से सर्वेश्वर का मन कुछ इस तरह बंधा है कि महानगर की सारी चमक-दमक और सारे आडम्बरों के बीच रहने के बावजूद सर्वेश्वर गाँव के परिवेश से अपने को अलग नहीं कर पाते। सर्वेश्वर ने विशेष रूप से 'कुआनो नदी' में ग्रामीण परिवेश को अपने ढंग से व्यक्त किया है। गाँव के जीवन का भोगा हुआ यथार्थ उनकी स्मृति में सदा विद्यमान रहता है। ''यह ग्रामीण स्थिति, संवेदना और तत्सम्बन्धी संदर्भों की कविता होते हुए भी दो संस्कृतियों बल्कि कहें कि तीन संस्कृतियों-गाँव, कस्बा और नगर को अपने वृत्त में समेटे हुए है। इसका कवि एक साथ तीनों स्थितियों को झेल रहा है और अनुभव कर रहा है कि सांस्कृतिक प्रवाह रुक गया है, उसमें कीचड़ भर गयी है और जिस नौका पर वह सवार है उसका मल्लाह निर्जीव पड़ा है। फलतः न लौटकर ग्राम्य-संस्कृति में जाया जा सकता है और न नगर संस्कृति में जिया जा सकता है। वापस लौटने के लिए शक्ति नहीं है और नगरीय-संस्कृति से जुड़ने के लिए मन नहीं।''[7] जिस ग्रामीण परिवेश के सामाजिक संदर्भों में कवि का मन रमता है, वे संदर्भ दुःखद अधिक हैं सुखद कम। दरअसल आजादी के बाद गाँवों को जो मिलना चाहिए था, वह मिल नहीं पाया। ''आजादी के बाद आने वाले तमाम बदलावों और जनतांत्रिक उपक्रमों के बावजूद गाँव मूलतः बदरंग और विरूप हैं। उनमें जो कुछ भी स्वस्थ, सुन्दर और शुभ है, या तो उसका तेजी से क्षरण हो रहा है या वह नगरों के एक बड़े नरक में खपने-पचने के लिए नगरों की ओर पलायन कर रहा है। गाँव रहने योग्य नहीं रह गये हैं, वे लगातार खाली हो रहे हैं, मर रहे हैं।''[8] डॉ. शिवकुमार मिश्र की यह टिप्पणी भले ही बहुत बाद की हो किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि गाँव के सामाजिक परिवेश में रहकर सर्वेश्वर जो देखते और महसूस करते थे, उसका आभास इन पंक्तियों से हो जाता है। कुआनो नदी के किनारे बैठा कवि ग्रामीण परिवेश में आ रहे नकारात्मक बदलावों को इन शब्दों में अभिव्यक्ति देता है–''**इस नदी के किनारे/कोई मेला नहीं लगता/न ही पूर्णिमा स्नान होते हैं/एक मन्दिर है/जो बहुत कम खुलता है/जिसकी सीढ़ियाँ/अहदियों के बैठने के काम आती हैं/मैं अक्सर वहाँ बैठा रहता हूँ/और दालान के कोने में/टूटा, जाला लगा, चमड़े का/एक बहुत पुराना बड़ा ढोल टँगा/देखता रहता हूँ जो अब बजता नहीं।**''[9] वस्तुतः सर्वेश्वर अपने परिवेश के केवल मूक साक्षी भर नहीं हैं बल्कि उन्होंने गाँव की निर्धनता का नग्न साक्षात्कार किया है। इसलिए जब सर्वेश्वर निर्धनता के परिवेश का ताना-बाना बुनते हैं तो वह हमें न केवल प्रमाणिक लगता है बल्कि हम उससे अंतर्मन के गहरे स्तरों तक जुड़ जाते हैं। ''**बरसात का पानी/आज भी गाँव में भरता है/बिना जगत के कुओं के भीतर चला जाता है/आदमी और चौपाए/खरवा से घायल पैर की अँगुलियाँ/और खुर लिए लंगड़ाते चलते हैं/सुअर लौटते हैं/पानी में बैठी औरतें खाना पकाती हैं/उनके चूल्हों में टीन की चादरें लगी होती हैं/जिससे अदहन खौल जाता है।**''[10]

वस्तुतः सर्वेश्वर जिस सामाजिक परिवेश को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, वह अपनी प्रकृति से विकलांग है। उसमें जीवन्तता या चेतनता के कोई लक्षण शेष नहीं है। चारों ओर मृत्यु का सन्नाटा है। समाज में पसरे मृत्यु के इस भयावह वातावरण को सर्वेश्वर इन शब्दों में बाँधते हैं–''**शब्द जिन्हें मैं बुनता हूँ/मर चुके हैं/शब्द जिन्हें मैं सुनता हूँ/मर चुके हैं/सम्बन्ध जिन्हें मैं जीता हूँ/मर चुके हैं/सम्बन्ध जिनमें मैं बीता हूँ/मर चुके हैं/हर क्षण एक दर्पण टूटता है/एक आकृति मरती है/चाहे वह ईश्वर की हो/या आदमी की/शहर के घण्टाघर की हो/या अकादमी की/ज्ञान का अर्थ/यहाँ केवल मृत्यु का ज्ञान है/शेष सब अज्ञान है/इस मृत नगर में।**''[11] इन पंक्तियों में जड़ता और मृत्यु का जो त्रासद निरूपण है, वह कहीं न कहीं बदलाव की छटपटाहट भी लिए हुए है। इस सारी जड़ता के बीच कवि का जो 'मैं' है, वह इसी जड़ता से संघर्ष कर रहा है। उसे लगता है कि वह मुर्दों के बीच मौजूद है और उन्हीं से लिपट और लड़ रहा है। सर्वेश्वर अंतर्मन के गहरे स्तरों पर यह महसूस करते हैं कि महानगरीय जीवन की आपाधापी में मनुष्य की पहचान ही खो गयी है। इस पहचान के खो जाने का दर्द उनकी रचनाओं में साफ तौर पर देखा जा सकता

है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सर्वेश्वर जिस सामाजिक यथार्थ से प्रतिबद्ध रचनाकार हैं, उसके स्रोत उनके समाज के प्रति गहरे लगाव एवं उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता में निहित है। यही कारण है कि सामाजिक परिवेश के विविध संदर्भों पर उनकी गहरी पकड़ है।

कोई भी महान कवि अपने सांस्कृतिक परिवेश से अछूता नहीं रह सकता। दरअसल संस्कृति के अमृत रस से सिंचित होकर ही रचना प्राणवान बनती है। सर्वेश्वर यों तो प्रगतिशील धारा के रचनाकार हैं किन्तु उन्होंने तथाकथित प्रगतिवादी कवियों की भाँति कभी भी सांस्कृतिक परिवेश की उपेक्षा नहीं की बल्कि कहना होगा कि उन्होंने सांस्कृतिक संदर्भों और प्रतीकों का कलात्मक उपयोग करते हुए अपने वैशिष्ट्य को प्राणवान ऊर्जा के साथ रेखांकित किया है। उनका आवास भले ही भारत की राजधानी में रहा हो किन्तु उनकी संवेदना पूरी तरह ग्रामोन्मुख है। यही कारण है कि उनकी सांस्कृतिक संवेदना ईमानदारी से स्वयं को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। आस्था को केन्द्र में रखकर सर्वेश्वर ने जो सांस्कृतिक वातावरण रचा है, वह भले ही उन्हें मार्क्सवादी खेमे से बाहर रखता हो किन्तु उनकी भारतीयता ऐसे प्रसंगों में प्राणवत्ता से उभरी है। प्रणय के प्रसंग में भी वे सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग किस प्रकार करते हैं यह देखते ही बनता है–**''ड्योढ़ी पर पहले दीप जलाने दो मुझको/तुलसी जी की आरती सजाने दो मुझको/मंदिर में घण्टे, शंख और घड़ियाल बजें/पूजा की साँझ-सझौंती गाने दो मुझको/उगने दो पहले उत्तर में ध्रुव तारा/पथ के पीपल पर कर आने दे उजियारा/पगडण्डी पर जल, फूल, दीप धर आने दो/चरणामृत जाकर ठाकुर जी का लाने दो/यह डूबी-डूबी साँझ उदासी का आलम/मैं बहुत अनमनी चले नहीं जाना बालम।''**[12] इन पंक्तियों में एक वियोगिनी की मनोव्यथा का अंत होने के बाद मिलन के क्षणों में अपने आस्था भाव को व्यक्त करने के लिए जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उनसे हमें सुहागिन का व्यक्तित्व पूर्ण होता प्रतीत होता है, इन प्रतीकों में ग्रामीण परिवेश की सौंधी महक भी विद्यमान है।

जैसे-जैसे महानगरीय सभ्यता का प्रसार हो रहा है, वैसे-वैसे हमारा सांस्कृतिक परिवेश अपनी अर्थवत्ता खोता जा रहा है। कंकरीट के जंगलों में दम तोड़ते सांस्कृतिक प्रतीक कवि के मन में एक टीस उत्पन्न करते हैं। वह अनायास ही इन सांस्कृतिक प्रतीकों के नष्ट होने की वेदना में अपनी अनुभूतियों को इन शब्दों में अभिव्यक्ति देता है–**''मैं चारों खाने चित्त पड़ी/देवमूर्तियाँ देखता हूँ/पहली बार मुझे लगता है/मेरे पास बहुमूल्य कुछ भी नहीं है/मेरी जान तक नहीं/फिर मैं क्यों सब बचाना चाहता हूँ?''**[13] वस्तुत: सांस्कृतिक संदर्भों के निरन्तर क्षीण होते जाने की ये प्रक्रिया हमारी पहचान को धुंधलाने की एक सोची-समझी कोशिश है। सर्वेश्वर ने एक सजग रचनाकार की भाँति इस कोशिश को और इससे उत्पन्न खतरनाक परिवर्तन को भोगा और महसूस किया है। कहने का आशय यह है कि सांस्कृतिक परिवेश के अंकन में सर्वेश्वर जहाँ गाँव केन्द्रित सांस्कृतिक प्रतीकों का पूरी संवेदनशीलता के साथ प्रयोग करते हैं, वहाँ नगरीकरण की भयावह प्रक्रिया के बीच क्षरित होते हुए सांस्कृतिक परिवेश को पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार सर्वेश्वर के काव्य में परिवेश-बोध के विभिन्न आयाम हैं। उनका राजनीतिक परिवेश-बोध यथार्थ की धुरी पर टिका है। आजादी को पानी के लिए जो संघर्ष हमारे स्वतन्त्रता सेनानियों ने किया था, उसकी परिणति में सत्ताधीशों ने भूख, भय और भ्रष्टाचार का जो नग्न नाच दिखाया उससे रचनाकार स्वयं को एक मोहभंग की स्थिति में पा रहा था। सर्वेश्वर ने इस मोहभंग की स्थिति को पूरी संवेदनशीलता के साथ महसूस किया। राजनीति के भ्रष्ट होते जाने और मूल्यों के क्षरण की समस्या को लेकर सर्वेश्वर ने जिस काव्य का सृजन किया है, वह हमें कहीं भीतर ही भीतर तक छील देता है। मध्यवर्गीय दृष्टि को विस्तार देते हुए उन्होंने सामाजिक जीवन की उन विडम्बनाओं पर अँगुली रखी है जिन्होंने हमारे समाज को विद्रूप बना दिया है। सांस्कृतिक परिवेश के अंकन में सर्वेश्वर ने गाँव को धुरी बनाकर सांस्कृतिक प्रतीकों का पूरी संवेदनशीलता के साथ प्रयोग किया है। साथ ही उन्होंने महानगरों में टूटते-बिखरते सांस्कृतिक मूल्यों को भी गहरी वेदना के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। समग्रत: सर्वेश्वर की काव्य चेतना अपने परिवेश से न केवल जुड़ी रही है बल्कि उसने परिवेश को पूरी तरह अपने में रचा-बसा लिया है। वे परिवेश को पहले भोक्ता के रूप में ग्रहण करते हैं, फिर उसे अपनी अनुभूतियों से एकरूप करने के बाद उसी परिवेश को वापस लौटा देते हैं जिसे उन्होंने आभ्यान्तरीकृत किया था। अपनी इसी क्षमता के बल पर सर्वेश्वर और उनका काव्य निरन्तर प्रासंगिकता के नए-नए आयामों का स्पर्श करता रहेगा।

संदर्भ :–

1. सर्वेश्वर का काव्य : सवंदेना और संप्रेषण, हरिचरण शर्मा, पृ. 21 पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण-1980
2. अंतरंग साक्षात्कार : भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 66, सचिन प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली। प्रथम संस्करण-1988
3. कवितायें-2, 'गर्म हवायें', 'स्थिति यही है', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ. 98, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978
4. कुआनो नदी, 'गोबरैले', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ. 51, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण-1984
5. खूँटियों पर टँगे लोग, 'पोस्टमार्टम की रिपोर्ट', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ. 37, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1982
6. वही, 'आहिस्ता मत चलो', पृ. 39-40 **7.** सर्वेश्वर का काव्य : संवेदना और संप्रेषण, डॉ. हरिचरण शर्मा, पृ. 73
8. 'दस्तावेज' (जनवरी-मार्च, 2002), संपा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 'कथाकार विवेकी राय', डॉ. शिवकुमार मिश्र का लेख
9. 'कुआनो नदी', कुआनो नदी, पृ. 14-15 **10.** वही, पृ. 12
11. कवितायें-2, 'एक सूनी नाव', 'इस मृत नगर में', सर्वेश्वर, पृ. 46, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978
12. कवितायें-1, 'काठ की घंटियाँ', 'सुहागिन का गीत', सर्वेश्वर, पृ. 26, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978
13. कुआनो नदी, पृ. 26, सर्वेश्वर, पृ. 32